

ॐ



हे करुणासागर! हम बालकोंके तारणहार, मोक्षमार्ग प्रकाशक,
सदाय निस्पृह एवं निर्मलहृदयी ऐसे आपश्रीकी ८६वीं
जन्मजयंति प्रसंग पर आपके चरणकमलमें भक्तिपुष्प अर्पण कर
आपका अभिवादन करते हैं।

- स्वानुभूति प्रकाश परिवार

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२५३, वर्ष-२३, दिसम्बर-२०१८

आषाढ शुक्ल ११, मंगलवार, दि. २८-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-५८, प्रवचन-२०

अब कहते हैं-‘देहादिरूप मैं नहीं हूँ-यही ज्ञान, मोक्ष का बीज है।’ लो! यह ज्ञान, मोक्ष का बीज है, दुनिया का कोई ज्ञान, मोक्ष का बीज नहीं है। देहादि मैं नहीं-‘देहादि’ शब्द है न? (अर्थात्) देह, वाणी, मन, राग, द्वेष, कल्पना-यह इत्यादि मैं नहीं हूँ।

देहादिउ जो परु मुणइ जेहउ सुणु अयासु।
सो लहु पावइ (?) बंभु परु केवलु करइ
पयासु।।५८।।

जैसे शून्य आकाश...इस आकाश को किसी भी पदार्थ का सम्बन्ध दिखने पर भी, इसे सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार भगवान आत्मा देह, वाणी, कर्म, यह माता-पिता, कुटुम्ब-कबीला, बाहर का क्षेत्र, काल का संयोग दिखता है परन्तु उस संयोग में आत्मा है ही नहीं, प्रत्येक संयोग से आत्मा निराला है। जैसे आकाश व्यापक है, निर्मल है; उसमें सभी पदार्थ इकट्ठे पड़े दिखते हैं, तथापि आकाश उससे भिन्न है। आकाश कभी उन परपदार्थरूप हुआ नहीं है और परपदार्थ, आकाशरूप हुए नहीं हैं। कहो, समझ में आया?

‘आकाश परपदार्थों के सम्बन्धरहित है, असंग...’ अकेला है; वैसे ही भगवान आत्मा अभी और त्रिकाल, राग के सम्बन्ध में, माता-पिता, कुटुम्ब, स्वजन-बैरी-शत्रु... समझ में आया? कर्म, उसके मध्य

में रहा हुआ तत्त्व, तथापि उनके साथ से बिल्कुल भिन्न है, बिल्कुल भिन्न है। कुछ लेना या देना... पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया? आकाश में इतने-इतने बादल होते हैं, कितने पंच रंगी... मूसलाधार वर्षा पड़े, आकाश को कुछ लेना-देना नहीं। इसी प्रकार भगवान आत्मा आकाश के समान निर्लेप असंग और भिन्न है, उसे भिन्न पदार्थ जितने-जितने कहे जाते हैं-दया, दान के विकल्प से लेकर जितने पर (पदार्थ), उन्हें और इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। ओहोहो..! ऐसे आत्मा को अन्दर अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है।

मुमुक्षु :- आकाश में कुछ विक्रिया होना सम्भव नहीं है।

उत्तर :- परन्तु किसकी विक्रिया? आकाश में होती है? वैसे ही आत्मद्रव्य में नहीं। पर्याय भी एक समय की कृत्रिम अवस्था है, वह कहाँ त्रिकाली तत्त्व है? वह तो आस्रवतत्त्व है, वह कहीं आत्मद्रव्य नहीं है।

मुमुक्षु :- इसकी है।

उत्तर :- नहीं, नहीं... इसकी है ही नहीं-ऐसा है यह। विकृत अवस्था, वह आस्रवतत्त्व है; आत्मतत्त्व नहीं। कहो, समझ में आया? पर्याय भले वह, परन्तु पर्याय अर्थात् आस्रवतत्त्व। भगवान ज्ञायकतत्त्व... आकाश को और पर को कुछ सम्बन्ध

नहीं है, अग्नि की ज्वाला आकाश में होती हो, हड... हड... हड... हड... (होते) हों, आकाश को कुछ सम्बन्ध है? अग्नि का और उसका कुछ सम्बन्ध है? किसको? आकाश को। पूरा बड़ा पर्वत जले, लगातार ऐसी श्रेणी, हाँ! जलते हों। आकाश को कुछ सम्बन्ध नहीं है। भगवान-आकाश, अरूपी आकाश के समान असंख्य प्रदेशी निर्लेप, असंग है।

यह शरीर बड़ा फोड़ा पूरा है। लो यह... शरीर स्वयं ही फोड़ा है। इस फोड़े में चाहे जैसा भभका हो तो आत्मा को कुछ स्पर्श करे-ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा..!

समझ में आया? कहते हैं न? एक अंगुल में छियानवें रोग.. कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं न? शरीर के एक अंगुल में छियानवें रोग... परन्तु वे रोग शरीर में हैं, आत्मा को छूते ही नहीं न! आकाश पड़ा है, वहाँ ज्वाला होती हो, वह ज्वाला आकाश को छूती ही नहीं न! आहाहा..! समझ में आया? ऐसा चैतन्य ज्योत ज्वाला

आकाश के समान अरूपी असंग, उसे यह देहादिक का शरीर आदि... शरीर आदि (शब्द से) वाणी, मन, सब अपने आत्मा से पर जानता है, वह पर है, पर है। मुझे और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा हो परन्तु आकाश (के साथ) पर का एकपना नहीं होता। वैसे ही आत्मा को-सम्यग्ज्ञानी को-इसे और मुझे कुछ (लेना-देना नहीं)। पर, वह सब अलग, निराले रहे हैं, शामिल कभी हुए ही नहीं। छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा दिखे, हीरा-माणिक के ऐसे बड़े हार पहने हों... चैतन्य-आकाश को वे चीजें, असंग को संग करती नहीं, वे असंग का संग करती नहीं। आहाहा..! स्वयं असंग चीज, पर

का संग नहीं करता और संगवाली चीज असंग को स्पर्श नहीं करती-ऐसा आकाश के समान भगवान आत्मा, असंग और निर्लेप-पर से भिन्न है, लो! बड़ी उपमा दे दी।

‘सो पर बंधु लहु पावड़’ अनेक संग के प्रसंग में रहा होने पर भी, स्वभाव (तो) संग-प्रसंग रहित है, असंग है। समझ में आया? ऐसी दृष्टि करनेवाले को परमब्रह्म परमात्मा प्राप्त होता है। समझ में आया? यह तो अकेला मक्खन है। योगसार है न? आहाहा..!



मुमुक्षु :- दृष्टान्त ऐसा है न कि प्रत्यक्ष तत्काल अनुभव हो परन्तु यह करता नहीं है।

उत्तर :- यहाँ भी कितनी हौश की है? ऐसा चुपड़ना और ऐसा फूलाफाला दिखे वहाँ, भाईयों को और लड़कों को हौश दिखावे। मानों हमने कितने काम किये! कितने करते हैं? देखो! तुम्हें ऐसा करना, तब हमने बड़प्पन

लिया है और तुम मुझे बड़प्पन देते हो.. बाहर में भी ऐसे फूले-फूले... देखो, यह सब काम करते हैं। देखो, ऐसा करते हैं, हाँ! हम अकेले ऐसे नहीं निभते, तुम्हारे आश्रय से निभते नहीं। हम अपने उससे निभते हैं.. ऐसा है, ऐसा है। धूल-धाणी और वाह पानी... ऐ.. भाई! इसमें जैसे हौश है.. ऐसा यहाँ कहना है। ऐसी अपनी हौश दूसरे को बताकर स्वयं अधिक हूँ-ऐसा जो कहना चाहता है, ऐसा यहाँ रागादि से मेरी हौश बताना? ज्ञानादिक से मैं अधिक हूँ, ज्ञानादिक से मैं अधिक हूँ, राग से अधिक हूँ नहीं। आहाहा..! समझ में आया?

‘परब्रह्म स्वरूप का अनुभव करता है... ‘केवलु पयासु’ वह ‘केवलज्ञान का प्रकाश करता

है।' आकाश जैसा भगवान आत्मा... अरे..! दृष्टान्त भी कैसे! सिद्धान्त को सिद्ध करें जैसे! आहाहा..! समझ में आया? कहो, समझ में आया?

'जैसे आकाश में एक ही क्षेत्र में...' एक ही क्षेत्र में आत्मा आकाश है, वहाँ एक क्षेत्र में धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल दूसरे जीव, जड़, परमाणु, पुद्गल, नारकी, देव, तीव्रतम नारकी के दुःख, बाहर की अनुकूलता का पार नहीं-ऐसे स्वर्ग के सुख, ये आकाश को छुएँ या आ मिलें, (ऐसा) कुछ नहीं होता। इसी प्रकार भगवान सर्व व्यापक जहाँ हो, वहाँ जाननेवाला... जाननेवाला.. जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... ऐसा भगवान सर्व व्यापक आत्मा, वह चाहे नर्क में संयोग की दशा में हो, स्वर्ग के अनुकूल की दशा में हो, शरीर का तीव्रतम (रोग) हो, रोग से शरीर सड़ता हो, उसे कुछ छूआ या अड़ता नहीं है। आहाहा..! ऐसा आकाश की तरह आत्मा पर से अत्यन्त असंग है-ऐसी दृष्टि, अनुभव करने से उसे परब्रह्म परमात्मा अपना स्वरूप प्राप्त करता है और क्रम से केवलज्ञान पाता है, यह उसका उपाय है। कहो, समझ में आया इसमें?

जिसमें अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल 'उनकी परिणति से आकाश में कोई विकार या दोष नहीं होता...' आता है? कोई गाली दे, तलवार से मार डाले, खून करे, उसमें आकाश को कुछ है? 'आकाश उससे बिल्कुल शून्य है...' उनसे बिल्कुल शून्य 'निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता।' छठी गाथा में कहा है न? ज्ञायक तो ज्ञायकभाव ही रहा है, कभी जड़ नहीं हुआ। जड़ अर्थात् विकल्परूप नहीं हुआ, ऐसा। विकल्प, अचेतन है। चैतन्य के प्रकाश का तेज-सत्त्व, वह अचेतन विकल्परूप कब होगा? अकेला चैतन्य का रसकन्द शाश्वत सत्त्व, उसे विकल्प जो अचेतन जाति है, उसरूप ज्ञायक कभी नहीं होता। चैतन्य मिटकर तीन काल-तीन लोक में

जड़ नहीं होता-ऐसे आत्मा को अन्तर दृष्टि और ज्ञान में लेना, वह परमात्मपद प्राप्ति का उपाय है। यह योगसार है, देखो!

ऐसा हूँ, आकाश के समान। बाद की गाथा में यह कहेंगे, आकाश जड़ है और यह चैतन्य है- इतना अन्तर है, बाद की गाथा में कहते हैं। समझ में आया? ५९ में कहते हैं न? यहाँ तो आकाश की उपमा दी है न?

**जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणु
वंत्तु।।५९।।**

यह बाद में आयेगी। इसके साथ सन्धि करते हैं न? समझ में आया? आकाश की सत्ता अलग और आकाश में रहनेवाले पदार्थ की सत्ता अलग है न? या एक है? यह स्त्री, पुत्र और राग की सत्ता तथा आत्मा की सत्ता एक होगी या अलग? हैं? सब इकट्ठे रहे होंगे या एक (होकर रहे होंगे)? यहाँ (अलग) कहते हैं, वहाँ घर जाये तो पता पड़े इसे। यह कहे, बापूजी! मैं कुछ तुम्हारा धर्म छोड़ूँगा नहीं, हाँ! आहाहा..!

'ज्ञानी को समझना चाहिए कि आत्मा आकाश के समान अमूर्तिक है, आत्मता के सर्व असंख्यात प्रदेश अमूर्तिक है...' यह कुछ नहीं। आधार-आधार की बात नहीं, वे तो अलग रही हुई चीजें हैं। यहाँ अलग चीज भले तैजस और कार्माण (शरीर) रहे परन्तु वे अलग के अलग ही। आधार-फाधार आत्मा की पर्याय का भी उन्हें नहीं है। समझ में आया? भिन्न-भिन्न है। लो!

कषाय की मन्दता, तीव्रता का भाव, उससे भी आत्मा अत्यन्त भिन्न है। 'मेरा कोई सम्बन्ध मन-वचन-काया की क्रिया के साथ नहीं है।' लो, वे कहते हैं, मन-वचन और काया की क्रिया से आत्मा को बन्ध होता है और धर्म होता है। हैं? आहाहा..! मन, वचन और काया की क्रियाओं के साथ मुझे और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध

नहीं इसलिए धर्म नहीं और सम्बन्ध नहीं उससे बन्ध भी नहीं। आहाहा..! 'मैं बिल्कुल पर के मोह से शून्य हूँ, मैं परम वीतरागी और निर्मल हूँ।' ऐसा ठीक लिखा है। 'जगत् में मेरे आत्मा को कोई माता-पिता है न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न बहिन है, न पुत्री है, न कोई मेरे आत्मा का स्वामी है, न मैं किसी का स्वामी हूँ, न मैं किसी का सेवक हूँ, नहीं मेरा कोई सेवक है, न मेरा कोई गाँव है, न धाम है...' गाँव भी नहीं और धाम भी नहीं। 'न कोई वस्त्र है न आभूषण है।' लो!

'मुझे परवस्तु के साथ किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है।' आहाहा..! देखो! यह भेदज्ञान है, यह भेदज्ञान है। है, वैसा ज्ञान, ऐसा। भेदज्ञान अर्थात्? जैसी चीजें पृथक् है, वैसा उनका ज्ञान (होना), उसका नाम भेदज्ञान है। 'मुझमें समस्त पर का अभाव है, समस्त पर में मेरा अभाव है।' मुझमें पर का अभाव और पर में मेरा अभाव है। 'विश्व के अनन्त संसारी और सिद्धात्माओं...' जगत् के-संसार के अनन्त जीव या सिद्ध के। 'अपने मूल स्वभाव से मेरे आत्मा के स्वभाव जैसे ही हैं। तो भी मेरी सत्ता भिन्न ही है...' भले अनन्त सिद्ध और अनन्त संसारी मेरी सत्ता जैसे हैं, शुद्ध सत्ता जैसे हैं, तथापि मेरी शुद्ध सत्ता से वे निराले हैं। एक नहीं कुछ, शुद्ध सत्ता एक नहीं हो जाती है। आहाहा..! कहो, समझ में आया?

'मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, चेतना आदि गुण, निराले है, मेरा

परिणमन निराला है...' उनके गुण निराले, उनका परिणमन निराला, मेरे गुण निराले, मेरी परिणति निराली... 'समस्त आत्माओं का परिणमन निराला है। मैं अनादि काल से अकेला ही रहा हूँ और अनन्त काल तक अकेला ही रहनेवाला हूँ।'

'अनादि संसार भ्रमण में मेरे साथ अनन्त पुद्गलों का संयोग हुआ परन्तु वे सब मुझसे दूर रहे हैं।' लो! 'जैसे सूर्य के ऊपर बादल आने पर भी सूर्य अपने तेज में प्रकाशवान रहता है...' सूर्य पर वर्षा बरसे तो सूर्य को कुछ होगा? बादल-बादल से (कुछ होता होगा)? 'संसार अवस्था में अनेक माता-पिता, भाई-पुत्र के साथ सम्बन्ध प्राप्त किया परन्तु वे सब मुझसे भिन्न ही रहे हैं...' लेना या देना कुछ नहीं था। 'बहुत परपदार्थोंका संग पाया परन्तु वे मेरे नहीं हुए...' एक रजकण भी अपना नहीं हुआ। दो भाई तो, 'डण्डे मारने से पानी अलग नहीं पड़ता' ऐसा लोग कहते हैं। कैसे होगा? पाँच भाई भिन्न हो गये, तुम्हारे लड़के भी अलग हो गये। अलग तो अलग ही होंगे न! अलग हों वे अलग ही होंगे। आहाहा..! 'मैं उनका नहीं हुआ।' लो! 'देहादिउ जो पर मुण्ड' देहादि पर का अनुभव कर, पररूप है, ऐसा। तू तेरा चैतन्यमूर्ति है-ऐसा अनुभव कर। 'इसलिए मुझे ऐसी ही दृढ श्रद्धा रखनी चाहिए कि मैं सदा रागादि विकारों से शून्य रहा था, अभी भी हूँ और भविष्य में भी (शून्य) रहूँगा।' लो! फिर परमात्मप्रकाश का दृष्टान्त दिया है, तत्त्वानुशासन का दृष्टान्त दिया है। लो! समझ में आया? बस! दो हुए, ५९ वीं कहेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (दिसम्बर-२०१८) का शुल्क

स्व. श्री शीवलालजी मांगीलालजी सिंघवी, दबोक (उदयपुर),

ह. श्री सुमतिलाल शिवलाल शाह परिवार, यु.एस.ए. के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके ३०७ वचनामृत पर भाववाही
प्रवचन, दि.१९-७-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-१४८ (विषय : भेदज्ञान)

ज्ञान और रागके बीच भेदज्ञान होनेका यह लक्षण है कि ज्ञानमें रागके प्रति तीव्र अनादरभाव जगता है-यही ज्ञान और रागके मध्य भेदज्ञान होनेका लक्षण है। आत्मामें रागकी गन्ध भी नहीं। रागके जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उसमें जलता हूँ, वह दुःख, दुःख और दुःख है-विष है-ऐसा ज्ञानमें पूर्व निर्णय हो; तो भेदज्ञान प्रकट होता है। ३०७.

३०७. भेदज्ञानका लक्षण लिया है। 'ज्ञान और रागके बीच भेदज्ञान होनेका यह लक्षण है कि ज्ञानमें रागके प्रति तीव्र अनादरभाव जगता है-यही ज्ञान और रागके मध्य भेदज्ञान होनेका लक्षण है।' सामान्यतः भेदज्ञानके विषयमें, उस प्रकरणमें जीव विचार करता है कि ज्ञान भिन्न है और राग भिन्न है। दोनोंके स्वरूपका विचार करे कि आकुलता लक्षण राग है, अनाकूलता लक्षण ज्ञान है। जानना लक्षण ज्ञान है, नहीं जानता है ऐसा भाव रागका है। रागमें ज्ञान नहीं है, जाननेका कार्य नहीं है। इसप्रकार उसके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये विचार करे और ऐसा भिन्न-भिन्न स्वरूप है ऐसा उसे विचारसे ख्यालमें आये तो उसने भेदज्ञान किया कि नहीं किया? उस प्रश्नका यहाँ उत्तर है।

भेदज्ञान हुआ उसका यह लक्षण है, भेदज्ञान हुआ अथवा होनेका यह लक्षण है कि रागके प्रति तीव्र अनादरभाव जगे। वैसे तो परस्पर अनर्पित लक्षण भी उसके अन्दर आता है। परन्तु यहाँ गुरुदेवश्रीने समझमें आये ऐसी बात ली है। ज्ञानमय आत्माके प्रति परम आदरभाव जागे वह उसका अस्ति लक्षण है। और रागके प्रति तीव्र अनादरभाव जगे वह उसका

नास्ति लक्षण है। नास्तिका लक्षण स्थूल है इसलिये वह बात बतायी। नहीं तो ऐसा कहे कि आत्माके प्रति तो हमें आदर है ही। आत्मा महान परमात्मतत्त्व है, ऐसी बात सुननेके बाद हमें आदर न हो अथवा न रखे वह प्रश्न नहीं है।

अब यहाँ ऐसा कहते हैं कि तुझे रागमें अच्छा लगता है, कोई एक प्रकारके राग परिणाममें तुझे अच्छा लगता है तो तुझे रागके प्रति तीव्र अनादर है वह बात नहीं रहती। तो फिर तुझे भेदज्ञान चलता है, यह बात भी नहीं रहती। ऐसा हुआ। विषयको बहुत स्पष्ट किया है। नहीं तो ऐसा एक रटन है, भेदज्ञान सम्बन्धित रटन है। रटन माने बारंबार विचार करना, बारंबार विचार आना कि ज्ञान भिन्न है। मैं ज्ञान भिन्न, राग भिन्न, ज्ञान भिन्न ऐसा कोई विचार भेदज्ञान है? कि ऐसा विचार भेदज्ञान है ऐसा नहीं है। यह उसका लक्षण लिया है।

'ज्ञानमें...' ऐसा लिया है। लक्षण है कि ज्ञानमें-चलते ज्ञानमें चलते रागके प्रति तीव्र अनादरभाव जागे। और इसके बिना रागमें-से हटनेकी जो अंतरंग प्रक्रिया है वह किसी भी प्रकारसे चले नहीं अथवा कैसे चले? चले ही नहीं। भेदज्ञानके कलशमें वही लिया

है न? 'अंतर दारुण दारणेन'। दारुणपने उसका दारण अर्थात् विदारण करना। उसका नाश करना। उसके प्रति दारुणतासे, दारुण कहो या तीव्रता कहो, निर्दयतासे, तीव्रतासे उसका विदारण करना, तीव्रतासे उसका अनादर होना चाहिये। रागकी विचारसे क्रीमत टाली हो तो थोड़ा-बहुत आगे बढ़े। लेकिन विचारमें भी अभी रागकी क्रीमत हो, अभिप्रायमें भी रागकी क्रीमत हो कि यह राग तो अच्छा है, इतना राग तो मुझे इष्ट है और यह राग तो मैं करूँगा। वैसे रागका कर्तृत्व है वह तो दृढ़ मिथ्यात्वको सूचित करता है। राग करनेका जो अभिप्राय है वह तो मिथ्यात्वकी तीव्रताको सूचित करता है। परन्तु विचारमें सुलटा विचार करनेके बाद भी रागके प्रति तीव्र अनादरभाव उत्पन्न हो, जागे अर्थात् उत्पन्न हो तो भी वहाँ भेदज्ञान चालू नहीं होता। और भेदज्ञान चालू नहीं होता है तबतक मोक्षमार्गके प्रति एक कदम भी आगे बढ़ना होता है, यह बात नहीं रहती। भेदज्ञान तो उसकी मास्टर की है। प्रारंभसे अंत तक।

कबतक भेदज्ञान होना चाहिये? कि जब तक ज्ञान ज्ञानमें स्थिर न हो जाये तब तक। अमृतचन्द्राचार्यदेवका कलश है। भेदज्ञान कब तक भाना? 'यावत् ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते'। जब तक ज्ञान ज्ञानमें अच्छे तरह स्थिर न हो जाये तब तक भेदज्ञानका अभ्यास प्रत्येक साधक, प्रत्येक मोक्षमार्गी जीव अंतरंगमें यह कार्य करते हैं। बाह्य कार्योकी उदयभावोकी विविधता कोई भी हो और वह प्रत्येकको भिन्न-भिन्न हो सकती है। सर्व साधकोको भिन्न-भिन्न हो सकती है। परन्तु भेदज्ञानकी प्रक्रिया अथवा उपायमें कोई फेरफार नहीं होता। वह एक ही प्रकारसे है।

मुमुक्षु :- शास्त्र स्वाध्यायकी रुचि हो वह मिथ्यात्वमें जाती है?

पूज्य भाईश्री :- राग तीव्र हो.. इतना ही देखना है, रागको समझना है। रुचिमें आत्माकी रुचि वश शास्त्र स्वाध्याय करनेकी भी इच्छा हो, भगवानके दर्शनकी भी इच्छा हो, ज्ञानका सत्समागम करनेकी इच्छा हो। ऐसा अनेक प्रकारसे राग आये। लेकिन

रागका आदर कितना है, इसकी जाँच करनी चाहिये। उस रागको भी उसे ठीक माना है, तब तक उसे रागके प्रति अनादर नहीं है और ज्ञानके प्रति उसे आदर नहीं है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- प्रारंभमें तो राग होना चाहिये न?

पूज्य भाईश्री :- अनादिसे राग है, अब कब तक प्रारंभ रखना है, यह सवाल है। कितने साल तक शुरूआत गिननी? एक नियम नक्की करो। कितने साल तक शुरूआत गिननी? कब तक शुरूआत गिननी? बालक हो तब तक शुरूआत गिननी? इसी प्रवृत्तिमें युवान हो तब तक शुरूआत गिननी? कि यही प्रवृत्ति करते-करते बाल सफेद हो गये हो, तब भी शुरूआत ही गिननी?

मुमुक्षु :- राग हो जाता है।

पूज्य भाईश्री :- हो जाता है, लेकिन वह करने जैसा है इस अभिप्रायसे हो जाता है? बस, इतना विचार करने जैसा है।

मुमुक्षु :- तो पहले क्या करना?

पूज्य भाईश्री :- बस! पहले यही करना। अपने ज्ञानमय स्वरूपको पहचाननेका, ज्ञानमय स्वरूपका निर्णय करनेका, निर्णयकी दिशाका प्रयत्न करना। आत्माको पहचाननेका, निर्णयकी दिशाका, पहचाननेकी दिशाका पहले प्रयत्न करना। जीव पहचानकर एकाग्र हो सकता है। पहचाने बिना एकाग्र होनेका प्रश्न नहीं रहता।

मुमुक्षु :- राग और भावमें क्या अंतर है?

पूज्य भाईश्री :- भावमें तो ज्ञान परिणामको भी भाव कहते हैं, रुचिके परिणामको भी भाव कहते हैं, पुरुषार्थके परिणामको भी भाव कहते हैं। भाव तो अनेक गुणके परिणामको, परिणाममात्रको भाव कहनेमें आता है। जीवके जितने गुणके परिणाम हैं उन सबको भाव कहनेमें आता है। परन्तु रागभाव है वह चारित्रगुणके परिणामकी विपरीत दशा है। मिथ्यात्व है वह श्रद्धागुणके परिणामका विपरीत भाव है, श्रद्धागुणका विपरीत दशाका भाव है। ऐसा है। सर्वसे अनिष्ट-श्रद्धाका विपरीत भाव है वह सर्वसे अनिष्ट है। श्रद्धाका विपरीत भाव रागको इष्ट मानकर प्रवर्तता

है। दूसरा कुछ सूक्ष्म समझमें नहीं आये तो भी उसे यह बात तो समझमें आये ऐसी है। कोई भी रागको, कोई भी अपेक्षासे, अपेक्षा लगाकर, शास्त्रमें-से ऊलटा पकड़े तब अपेक्षा लगाता है कि इस अपेक्षासे तो राग करने जैसा है कि नहीं? शुरुआतकी अपेक्षासे तो करने जैसा है कि नहीं? लो, ठीक। शुरुआतकी अपेक्षा लगाते हैं।

यहाँ बार-बार यह कहते हैं कि भाई! तू वीतरागस्वरूपी है और वीतरागस्वरूप तेरी दशा हो, ऐसा तेरा वीतरागभाव प्रगटे, वही तेरे स्वरूपके साथ अनुरूप है। राग तो तेरा दुश्मन है। उसे तू क्यों कोई अपेक्षा लगाकर साथमें रखना चाहता है? जब तक तू उसे साथमें रखना चाहता है, तब तक तू वास्तवमें वीतरागभावको चाहता नहीं है। अर्थात् तेरे स्वरूपकी तुझे रुचि नहीं है।

यहाँ तो अंतर अभ्यास चलता है। राग और ज्ञानको भिन्न-भिन्न करनेका अंतर अभ्यास चलता है। उसे भूला न पड़े इसलिये लक्षण बताते हैं कि ज्ञानमें-तेरे ज्ञानमें रागके प्रति तीव्र अनादरभाव है? राग हो और तुझे वहाँ-से हटनेका भाव आता है? शास्त्रका राग तो ठीक, लेकिन आत्माका विकल्प उत्पन्न हुआ वहाँ-से भी तुझे हटनेका प्रयत्न-हटनेका अभ्यास-हटनेका प्रयास चलता है? उसे तीव्र अनादर कहनेमें आता है। तीव्र अनादर माने रागको कुछ भी कहने लगे ऐसा नहीं। परन्तु रागसे हटनेका भाव, वह उसके प्रतिका अनादर है। और ज्ञानके प्रति ज्ञानमें रहनेका भाव है, वह ज्ञानका आदर है-वह आत्माका आदर है। उसे भेदज्ञान कहें, ऐसा कहते हैं। ऐसे लक्षणयुक्त परिणामको भेदज्ञान कहते हैं, अन्यको भेदज्ञान नहीं कहते।

‘आत्मामें रागकी गन्ध भी नहीं।’ आत्माके मूल स्वरूपमें-आत्माके मूल स्वभावमें राग तो नहीं है, परन्तु रागकी गन्ध भी नहीं है। यहाँ रागके एकत्व परिणमनमें उसे सब रागमय भासित होता है। क्योंकि प्रतिक्षण राग होता है। प्रतिक्षण राग होता है और रागमें ऐसा तन्मय और एकाकार होकर परिणमता है

कि उसे रागकी तन्मयतामें बस, सर्वत्र उसे राग, राग और राग ही भासित होता है। मैंपना हो गया है न इसलिये। उसे सीधा ऐसा कहते हैं कि देख भाई! तेरे मूल स्वरूपमें तो रागकी गन्ध भी नहीं है। राग तो नहीं है, लेकिन रागकी गन्ध भी नहीं है। ऐसा तेरा स्वरूप रागसे बहुत दूर है। तेरा मूल स्वरूप अर्थात् तू स्वयं रागसे बहुत दूर है। रागसे तू इतना दूर है और रागमें तन्मय और एकत्व (हो रहा है)? ऐसी कैसी स्थिति है?

‘आत्मामें रागकी गन्ध भी नहीं। रागके जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उसमें जलता हूँ, वह दुःख, दुःख और दुःख है-विष है-ऐसा ज्ञानमें पूर्व निर्णय हो; तो भेदज्ञान प्रकट होता है।’ ऐसा है। जितनी बात कही है, उतना अंतर खोज करके जाँच करनी चाहिये। रागके जितने विकल्प उठते हैं, सर्व विकल्पोंमें।

मुमुक्षु :- जलता हूँ।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, जलता हूँ अर्थात् जलन होती है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- ऐसे बात बैठती है। परन्तु मूल तो ऐसे ही है ‘रागके जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उसमें जलता हूँ...’ जलता हूँ ऐसा, अर्थात् जलता हूँ ऐसा दुःख है। ऐसा। जैसे जलन हो, कोई अग्निसे दग्ध हो, जले और दुःख हो, ऐसे दुःख होता है। ऐसे अर्थात् वैसा लेना है। जलता हूँ, वह बैठता है। लेकिन अपने तो प्रत्यक्ष श्रवण किया है, उनकी स्वयंकी शैली क्या है वह ख्यालमें है। रागमें जलता हूँ।

‘राग आग दाह दहे सदा, ताते समामृत सेइये’। छः ढाला नामक एक ग्रन्थ है। पण्डित दौलतरामजी हुए। बहुत अच्छा ग्रन्थ है। सादी भाषामें विषयका विस्तार संक्षेपमें है लेकिन सुचारुरूपसे यथार्थपने चार गतिके दुःख इत्यादि। छः ढालामें उन्होंने बहुत बातें ली है। उसमें एक पद है, ‘राग आग दाह दहे सदा, ताते समामृत सेइये’। राग है वह आग जैसा है।

वह उसका खास उपमावाचक लक्षण है। खास उपमावाचक लक्षण है उसके पीछे अनुभव है। रागका दुःख आग जैसा है। अग्नि जैसे जलाती है, वैसे (रागमें जलता है)।

जैसे किसीको अग्निमें जलना हो तो आग लगे उसमें वह स्वयं जलता है, अग्निमें। तब उसे, मैं जल रहा हूँ, ऐसा उसे ख्यालमें न आये और ऐसा कोई जूठा आभास हो कि अरे..! मेरेमें तो ज्योति प्रगट हुई। मेरेमें तो प्रकाश हो गया, क्योंकि अग्नि आती है तब साथ-साथ उसका प्रकाश आता है। वह जलनेके बजाय उसे वहाँ एक भ्रमणा-आभास हो कि अरे..! मेरेमें तो ज्योति प्रगट हुई है। तो थोड़ी क्षणमें जलकर राख हो जायेगा। क्योंकि वह बुझानेका प्रयत्न नहीं करेगा। एक भिन्न प्रकारकी भ्रमणामें थोड़ी क्षणमें तुझे आग घेर लेगी। फिर बचनेका अवकाश नहीं रहेगा। वैसे अज्ञानी राग होनेपर उसे अच्छा मानता है, उसकी उपमा ली है। भ्रमणासे उसे अच्छा मानता है। इसलिये उसके आत्माकी शान्तिका नाश होता है, आत्माके गुणका उसमें नाश होता है।

यहाँ जलनेकी खास बात इसप्रकार बैठती है। **‘जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उसमें जलता हूँ...’** जलता हूँ ऐसा लगे तो वहाँ-से छूटे। ऐसी जलनका दुःख लगे तो वहाँ-से छूटे। उसमें **‘दुःख, दुःख और दुःख है...’** एकान्त दुःख है, सर्वथा दुःख है, ऐसा कहना है। तीन बार लिया न। सर्वथा दुःख है। आत्माके आनन्द-अमृतसे विरुद्ध ऐसा विष है। **‘ऐसा ज्ञानमें पूर्व निर्णय हो;...’** ज्ञानमें निर्णय करे। विचारमें भी ऐसा लिया कि ज्ञानमें निर्णय करे, ज्ञानको ग्रहण करके निर्णय करे, ज्ञानके आधारसे ज्ञानमें निर्णय करे। निर्णय-स्वरूपका निर्णय, ज्ञानस्वरूपका निर्णय ज्ञानमें ज्ञानके आधारसे होना चाहिये।

यद्यपि सब निर्णय ज्ञानमें होते हैं, ऊलटा या सुलटा। सर्व निर्णय। निर्णय करनेका काम ज्ञानका है। वैसे यहाँ भी ज्ञानमें निर्णय करना चाहिये। और वह ज्ञानमें निर्णय हुआ माने क्या? कि रागकी प्रधानता

टूटकर, ज्ञानकी प्रधानतामें, रागकी प्रधानता टूटकर ज्ञानकी प्रधानतामें ज्ञान स्वयंके ही स्वरूपका निर्णय करे। इतनी बात है। **‘तो भेदज्ञान प्रकट होता है।’** उसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि जो जीव प्रथम स्वरूपका निर्णय करता है, उसे भेदज्ञान प्रगट होता है। भेदज्ञान प्रगट होनेकी दशा, भेदज्ञान चालू होनेकी दशा उसमें यह शर्त रखी है। यदि और तो कहकर। यदि अध्याहार है। परन्तु जहाँ यदि होता है वहाँ तो होता है। बराबर है? अतः यह शर्त रखी है।

भेदज्ञान किसे प्रगट होता है? भेदज्ञान तो सहज चलना चाहिये। यदि पहले ज्ञानमें निर्णय करे तो। दोनों पहलूका बराबर निर्णय हो जाना चाहिये। ज्ञानमें राग दुःखरूप और जलनरूप उसे लगना चाहिये और ज्ञानमें मैं परिपूर्ण ज्ञायक हूँ, ऐसे निज स्वरूपका निर्णय भी होना चाहिये। दोनों निर्णय हो जाने चाहिये, दोनों पहलूके। यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो उसे भेदज्ञान प्रगट हो। अन्यथा प्रगट नहीं होता। ऐसा है।

कोई ऐसा कहे कि अपने भेदज्ञानसे शुरू कर देते हैं। लेकिन निर्णय किये बिना भेदज्ञान चलेगा नहीं। यह बात, खास बात भेदज्ञानके-सहज भेदज्ञानके दरजेकी है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि पहले विचारसे कृत्रिमतासे भी भेदज्ञान करनेका उसे निर्णयकी दिशामें भी आगे बढ़नेका प्रयत्न करना चाहिये। और इस प्रकारका प्रयत्न चलना, वह उसकी भावनाके आधारित है। यदि उसकी स्वकार्य-निजकार्य करनेकी तीव्र भावना हो तो उसका बुद्धिपूर्वकका भी भेदज्ञान करनेका प्रयत्न चालू होगा। अन्यथा उसका वह प्रयत्न भी उसका चालू नहीं सकेगा। फिर क्या करेगा? जो कुछ वांचन-विचार हो उसमें उसे ऐसा लगे कि चलो, इतना तो करते हैं। सुबह एक घण्टा स्वाध्याय तो कर लेते हैं। अथवा उसके बाद भी इतना पढ़ते हैं, विचार तो करते हैं। वह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि तू भेदज्ञान करता है या नहीं? यह प्रश्न है। वांचन-विचार कितना करता है, यह हम तुझे पूछते नहीं है और उसकी हमें टिप्पणी भी नहीं करनी है। टिप्पणी करने जैसी बात इतनी ही है

कि जीव भेदज्ञान करता है या नहीं? यहि वह भेदज्ञान करे तो वह निर्णयकी दिशामें भी आगे बढ़ सके और निर्णय हो तो सहज भेदज्ञान होकर अनुभवकी दिशामें वह आगे बढ़ सके। दो स्तर पर जो कार्य है, उन दोनों स्तरमें भेदज्ञान तो मुख्य बात है। वह एक ही वास्वतमें साधन है ऐसा कहना चाहिये।

पूरे समयसारमें अविच्छिन्नरूपसे इस दृष्टिकोणसे देखने पर भेदज्ञानकी बात बारंबार ली है अथवा सर्वत्र भेदज्ञानका विषय शैली बदल-बदलकर भी सर्वत्र भेदज्ञानका विषय ही कहा है। ऐसा देखनेमें आता है।

मुमुक्षु :- निर्णय पूर्वका भेदज्ञान और निर्णय होनेके बादके भेदज्ञानमें अंतर है?

पूज्य भाईश्री :- निर्णय होनेके बादके भेदज्ञानमें भेदज्ञान जाग जाता है इसलिये सहज होता है। निर्णय पूर्व उसे कर्तृत्व सहित है, इसलिये जो-जो परिणाम सहित है उस परिणाममें उसे यह परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ती है। जैसे दूसरे कार्य कर्तृत्व सहित करता है, राग भी कर्तृत्वसे करता है तो उसे भेदज्ञान करनेका विचार करना और कृत्रिमतासे भी भेदज्ञान करना शुरू करना, अवलोकन करना शुरू करना।

जैसे कोई एक कार्यमें हर्ष हुआ। तो वह कार्य आत्मामें हुआ? या आत्माके बाहर हुआ? आत्माके बाहर हुआ। आत्माके बाहर हुआ तो उसमें आत्माको हर्ष होनेका क्या कारण है? उस कार्यसे आत्मामें क्या आया? उसके ज्ञानकी उसे जाँच करनी चाहिये। और जो हर्ष होनेका राग है उसे जाँचना चाहिये कि ये दोनों एक क्यों हो रहे हैं? रागका जो विषय है, वह ज्ञानमें आता नहीं होने पर भी ज्ञानमें प्रवेश नहीं करने पर भी ज्ञानको हर्ष-शोक होनेका कारण क्या है? वास्तवमें तो होना नहीं चाहिये। इस प्रकार उसे ज्ञान और रागको अवलोकनकी पद्धतिसे भिन्न-भिन्न जाननेका, भिन्न करनेका, जाननेका अर्थात् करनेका एक प्रयत्न चालू करना चाहिये। उस प्रयत्नमें कौन-सा कार्य निष्पन्न होता है-उत्पन्न होता है? कि उस प्रयत्नमें रागरस टूटता है।

जीवको शुभ अथवा अशुभ जो तीव्र रागरस

है, वह इतना गाढ़ है कि उसमें उसे अपने ही ज्ञानमें, अपना ही ज्ञानस्वरूप, ज्ञानको स्वयंका ही स्वरूप भासित नहीं होता। अर्थात् निर्णय नहीं होता है कि ज्ञानमय माने मैं कैसा? उसका उसे निर्णय नहीं होता है। निर्णय नहीं हो रहा है इसका कारण कि ज्ञान मलिन है। किससे मलिन है? पररसे, आत्मरससे नहीं, परन्तु शुभ-अशुभ अनात्मरससे मलिन है। रागसे रंजित, रागसे रंगा हुआ ज्ञान अपने स्वरूपको पहचान नहीं सकता। इसकी पहचान करनेके लिये उसे रागरस तोड़ना चाहिये और वह रागरस तोड़नेका साधन भेदज्ञान करना वह है। अन्य कोई साधन नहीं है।

मुमुक्षु :- फिरसे।

पूज्य भाईश्री :- जैसे कि इतना-इतना आत्माका विचार करनेमें आता है अथवा तो अनुभवी महात्माओंने शास्त्र द्वारा आत्मा दर्शाया। अनुभवी सत्पुरुषोंने प्रगट प्रत्यक्ष योगमें, प्रत्यक्ष समागममें वाणी द्वारा आत्मा दर्शाया और बुद्धिवान ऐसा जीव, स्वयं संज्ञी पंचेन्द्रिय बुद्धिसे सब कार्य करता है न, उसकी बुद्धि होने पर भी, उसे ज्ञान होनेके बावजूद, विचारशक्ति होनेके बावजूद उसका स्वरूप उसके ज्ञानमें जैसा कहते हैं वैसा ही उसे क्यों भासित नहीं होता?

ऐसा कहा कि तू आत्मा ज्ञानान्द, परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण आनन्दकी मूर्ति है। वह बात तू बुद्धिसे संमत तो करता है कि आप हमारा स्वरूप दर्शाते हो और आपकी बात सत्य है, आप सत्य कहते हो। लेकिन ऐसा भासन होना, ऐसा निश्चय होना, स्वयंको अपने विषयमें ऐसा लगना, ऐसा नहीं होनेका कारण क्या है?

जिस ज्ञानमें ऐसा लगना चाहिये, ऐसा भासना चाहिये वह ज्ञान विरुद्ध भावसे, विरुद्ध रससे रंग गया है। यद वह स्वयं अपनेआपकी जाँच करे तो उसे वह समझमें आये ऐसा विषय है। स्वयंकी जाँच करे तो उसको स्वयंको वह बात समझमें आये ऐसी है। उस विरुद्ध रसको तोड़नेका साधन क्या? कि ज्ञान एवं रागकी भिन्नता करनी, राग और ज्ञानको भिन्न करनेका प्रयोग करना। प्रयोग करना अर्थात् वर्तमान

चल रहे अनुभवमें दोनोंका भिन्न-भिन्न अवलोकन करना। तब उसे रागका रस मन्द पड़ता है। रागका रस मन्द पड़े तो ज्ञानकी भूमिका निज स्वरूप पहचाननेके लिये निर्मल हो। यदि उसकी ज्ञानभूमि निर्मल हुई तो उसमें 'मैं' ऐसा आत्मा, बोधस्वरूप ऐसा आत्मा' उसका बोध हो। तो उसे परिणमन हो। अन्यथा उस रूप परिणमन हो ऐसा नहीं बनता।

इसीलिये यहाँ शर्त रखी कि ज्ञानमें 'जलता हूँ, वह दुःख, दुःख और दुःख है...' जबतक उसे विकल्पमें जल रहा हूँ ऐसा ज्ञानमें लगे नहीं, दुःख न हो और ज्ञानमें वह निर्णय न हो तबतक उसे सहज भेदज्ञान प्रगट नहीं होता। सहज भेदज्ञान प्रगट करनेके लिये निर्णय करना चाहिये। यह शर्त रखी। और निर्णय करनेके लिये भेदज्ञानसे ही उसे निर्णय करना चाहिये। निर्णय करनेमें भी आत्मा भिन्न और राग भिन्न, इसप्रकार दो तत्त्वका निर्णय करना है न? स्व-पर तत्त्वका निर्णय करना है। स्वका भी निर्णय करना है और परका भी निर्णय करना है। स्वका निर्णय करके स्व सो मैं, ऐसा श्रद्धान करना है। और स्व सो मैं, ऐसी श्रद्धा होनेपर पर सो मैं, ऐसा जो श्रद्धान है उसका नाश होता है। ऐसा है।

रागसे हटनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। रागकी लार लंबाती ही रहती है। ज्ञान ही एक ऐसा साधन है कि जिसमें राग नहीं है और ज्ञान ही एक ऐसा साधन है कि जिसमें अपना-निज स्वभावका स्पष्ट अस्तित्व नज़रमें आता है। वह अस्तित्व जबतक उसे ग्रहण नहीं होता, तबतक उसे निर्णय नहीं होता। इसीलिये तो श्रीमद्जीने अस्तित्वसे वह बात ली कि अनादिसे जीवको अस्तित्व भासित नहीं हुआ है। अनादिथी अस्तित्व भासित नहीं हुआ है। अस्तित्व भासित होना वह सम्यक्त्वका अंग है। इस प्रकार सीधी बात ली है। ज्ञानमें ज्ञानको स्वयंका ज्ञानमय अस्तित्वका भास होना वह सम्यक्त्वका अंग है। ऐसा सीधा लिया है। तब उसे भेदज्ञान होनेका वह निर्णय कारण बनता है, भास्यमान होना वह कारण बनता है। ३०७ पूरा हुआ।

एक बोलमें कितनी बात ले ली है! निर्णयकी बात ली, भेदज्ञान प्रगट करनेकी बात ली, प्रगट हो तो उसे यह लक्षण है वह भी उसे भेदज्ञान प्रगट हुआ है कि नहीं उसका निश्चय कर लेना चाहिये। नहीं तो राग और ज्ञानकी भिन्नताका विचार करे और विचार करे तब उसे ऐसा लगे कि मैं तो भेदज्ञान करता हूँ। फिर रागमें एकाकार होकर रागका रस लेकर परिणमे। उसकी प्रकृतिमें जो राग होता हो। यहाँ उस प्रकारसे बात नहीं है।

मुमुक्षु :- रागकी उत्पत्ति होती है उसमें..

पूज्य भाईश्री :- प्रश्न क्या है?

मुमुक्षु :- प्रतिक्षण रागकी उत्पत्ति क्यों होती रहती है?

पूज्य भाईश्री :- ऐसा प्रश्न है कि बार-बार राग होनेका क्या कारण है? इतना प्रश्न है न?

मुमुक्षु :- पर पदार्थके प्रति लक्ष्य जाता है तो राग तो उत्पन्न हो ही जाता है।

पूज्य भाईश्री :- उपादान कारणमें ऐसा क्या पड़ा है कि राग ही होता रहता है? यह प्रश्न है न? स्वरूपका अज्ञान रागका उत्पादक है। यहाँ बीचमें एक वचन लिया न? उसमें भी हेतु है। वह तो कुदरती जो ज्ञानीकी वाणी आती है, वह बहुत गंभीर आशय लेकर आती है। 'आत्मामें रागकी गन्ध भी नहीं।' बीचमें एक वचन ले लिया है। सब पर्यायकी बात करते-करते एक द्रव्यकी बात कर दी है। उसमें हेतु है कि आत्मामें रागकी गन्ध नहीं है, ऐसा जो आत्माकी गन्ध रहित, रागके अभावस्वरूप आत्मद्रव्यका अज्ञान रागका उत्पादक है। दूसरा कोई राग होनेका कारण नहीं है। ऐसा है। स्वरूपका अज्ञान ही राग उत्पन्न करता है। समयसारमें एक जगह यह सिद्धान्त है कि स्वरूपका अज्ञान है वही राग उत्पन्न करता है, दूसरा कोई कारण नहीं है।

स्वरूपका ज्ञान होनेपर एक बार तो रागकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है। जब सर्वप्रथम बार शुद्धोपयोगमें रागकी उत्पत्ति बन्द होती है, असंख्य समयके लिये, तब उस रागको केन्सर लागू पड़ता है। प्रथम प्रहारमें

ही। फिर जो राग बाकी रहा है वह निर्बल रहा है, जिसका मूल जल गया है ऐसा रहा है। वह धिसते-धिसते, जर्जरित होता हुआ, जलता हुआ, टूटता हुआ नाश हो जाता है। फिर वह सदाके लिये नहीं रह सकता।

राग होता है उसका दुःख लगे तो उसका रस तो न आये। जिसमें जिसे दुःख लगे उसका उसे रस कैसे आये? यह प्रक्रिया प्रथमसे ही शुरू हो जानी चाहिये। लिया न? जलता हूँ, दग्ध होता हूँ ऐसा दुःख है। तो यह प्रक्रिया यदि शुरू हो तो जो रागका रस आकर जिस रागकी क्रियामें परिणमता था, उस प्रकारमें फ़र्क पड़े। ये मूलका-नींवका विषय है। यहाँ-से नींव न डले तो किसी भी प्रकारसे उसमें साधकपनेकी ऊपरकी चुनाई हो, साधकदशाकी चुनाई ऊपर हो वह कभी हो नहीं सकता। ऐसा है।

मुमुक्षु :- विकल्पमें दुःख लगना चाहिये। सोगानीजीने कहा।

पूज्य भाईश्री :- प्रथम तो, ऐसा कहकर बात ली है। प्रथम तो विकल्पमें दुःख लगना चाहिये, ऐसा लिया है। प्रथम तो अर्थात् यहाँ-से शुरूआत होगी। यह शुरूआत है। राग कर-करके शुरूआत करनी है, ऐसा नहीं। भाई! राग करके शुरूआत करनी है ऐसा

नहीं, इस मार्गकी शुरूआत तो रागके दुःखसे होती है। पहले तो हमें राग करना पड़े न? हम शुरूआत तो रागसे करे न? ऐसा नहीं। शुरूआत रागके दुःखसे होनी चाहिये। ऐसा मार्ग है। पूरा फेरफार है, ऊलटा मार्ग है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- जबतक अन्दरमें ज्ञान और रागका मिलान करना शुरू न हो, चलते परिणमनमें उसे ही प्रयोग कहते हैं। चलते परिणमनमें उसका मिलान न हो, तबतक उसे रागके अन्दर जो दुःखतत्त्व रहा है वह भासता नहीं। और दुःख भासे नहीं तबतक सहज हटना (नहीं होता)। अनजानेमें भी अग्रिसे प्रज्वलित कोयले पर हाथ-पैर लग जाये तो? एक सेकण्डमें झटकेसे उठा ले, खींच ले। अनजानेमें लग गया हो तो। क्योंकि जलता है। वैसे यहाँ जलता हूँ ऐसा दुःख लगे। बहुत सुन्दर उपमा ली है। एकदम अनुभव विषयक बात ली है। जलता हूँ ऐसे दुःख लगे तो उसे हटनेका प्रयत्न हुए बिना न रहे। ऐसा है।

इस प्रकार पहले ज्ञानमें भावभासन होना चाहिये। भावभासनको निर्णय कहो और निर्णय कहो या भावभासन हुआ कहो। ऐसा है। यह शुरूआतका प्रारंभका विषय है।

अनुभव संजीवनी

पूज्य भाईश्रीके अगाध मंथनमें से प्रवाहित यथार्थता सम्बन्धित चिंतन कणिकाएँ

प्रत्येक कार्य यथार्थ होवे, ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। इसके लिए यथार्थ समय पर यथार्थरूपसे और अचुकतासे कार्य हो, ऐसा सीखना चाहिए, जो कि सफलताका वैज्ञानिक क्रम है। कार्यकी यथार्थता वह कार्यकी सुंदरता है और इससे निष्णता व क्षमता प्राप्त होती है, शक्तिका अपव्यय नहीं होता है - अथवा समय व शक्तिका पूरा फायदा मिलता है। शक्तिके विकासका आधार भी यथार्थता पर है, जैसे कि यथार्थ सविचारणासे आत्मज्ञान प्रगट होता है।

(६८७)



मुमुक्षुजीव देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुषके प्रति बहुमान, भक्ति, विनयादि करता है फिर भी उसमें दो प्रकार पड़ते हैं, यथार्थ और अयथार्थ।

उपरोक्त परिणाम यदि यथार्थ प्रकारसे होते हैं तो सर्वत्र ऐसे परिणाम सहज रहते हैं अर्थात् देव,

गुरु, शास्त्र और कोई भी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सत्पुरुष विषयक प्रभावनाका प्रसंग उदयमान होवे तब भक्ति, विनयादिमें फर्क नहीं पड़ता, जब कि अयथार्थतामें जीव कोई भी अवांतर (अन्य) हेत्से अथवा विपरीत अभिनिवेशके कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका किसी न किसी बहाने निषेध करता है, और वैसे परिणामोंको विवेक समझकर उसका सेवन करता है, अथवा विपर्यासको दृढ़ करता है। किसी एक प्रसंगमें विरुद्धता होनेका कारण यह है कि जीव यथार्थतामें नहीं आया है; परन्तु अन्यत्र खुदके परिणाम भक्ति-विनयके होनेसे खुद भूलमें नहीं है, ऐसे भ्रममें रह जाता है - इस प्रकार गंभीर भूल हो जाती है। जो समय व्यतीत होने पर स्थूल गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न करा देनेके बीजभूत है। (७०६)



जिज्ञासु जीवको पात्रता / यथार्थ मुमुक्षुकी भूमिकाके बारेमें विचार करते वक्त, मुख्य बाबत ऐसा जो मार्गानुसारीपना - उसका विचार करने योग्य है। श्री जिनने उसे संक्षेपमें कहा है, कि जो जीवको सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेमें कोई बाधकभाव नहीं आता हो अर्थात् सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेके लिए अच्छी सी योग्यता प्रगट हो, वैसे गणवानको 'मार्गानुसारी' गिनना चाहिये।

'बीज रुचि सम्यक्त्व' अर्थात् सत्पुरुषकी (पहचानपूर्वक) स्वच्छंद निरोधपने, आज्ञारुचिरूप निष्काम भक्तिका कारण उक्त मार्गानुसारीपना होता है। 'बीजरुचि - सम्यक्त्व'- स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीतिका - उस रूप सम्यक्त्व सन्मुखका कारण होता है, जो कि निर्विकल्प परमार्थ सम्यक्त्वका अनन्य और निश्चय कारण है। इस प्रकार जिनवचनमें अनन्त भव छेदक कल्याणमर्ति सम्यक्दर्शनका मूल नज़रमें आता है, इस हेतुसे इस वचनको नमस्कार हो!



परमार्थका कथन आत्मभावके तथारूप आविर्भावपूर्वक होना चाहिए। अथवा आत्मभावका आविर्भाव होनेके हेतुसे, परमार्थ विषयक वचन-व्यवहारमें प्रवर्तनका उद्देश्य हो, तो वह यथार्थ है।

यदि उस प्रकारसे वचन-प्रयोग नहीं होता, तो उसमें कृत्रिमता होती है, अथवा उद्देश्य अन्यथा होनेके कारण, प्रायः कल्पना होती है। अतः विचारवान मक्षजीव और ज्ञानी वैसी प्रवृत्ति नहीं करते। (८८३)



परमपदार्थ शब्द आत्मस्वरूपके अलावा अन्य कोई द्रव्य / भाव अवलंबन लेने योग्य नहीं है - ऐसा जानकर उसके ऊपर वज़न/ज़ोर देनेमें आता है, उसमें दो प्रकार है। एक भावभासनपूर्वक, दूसरा उस प्रकारकी जानकारी होनेसे-ओघसंज्ञापूर्वक। ओघसंज्ञामें भावभासन बगैर चाहे कितना भी ज़ोर देनेमें आये, फिर भी उसमें रागका बल/प्रधानता होनेसे कृत्रिमता होती है। जिसके कारण परसन्मुखता चाल रहकर, राग वृद्धि होगी, परन्तु सम्यक्त्व और वीतरागता प्रगट नहीं होंगे। भावभासनसे सहज ज्ञानबल वृद्धिगत् होकर, स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा, स्वान्भव प्रगट होता है, जो यथार्थ विधि है। प्रथम प्रकारमें जानकारी यथार्थ होने पर भी विधि यथार्थ नहीं है। परन्तु जिसका वज़न पर्याय या भेद पर जाता है, वह तो यथार्थतामें ही नहीं है। तो वह स्वरूप प्रगट होनेका तो बनेगा ही कैसे ? (८८५)



शास्त्रके शब्दका अर्थ करनेमें सिर्फ क्षयोपशमकी आवश्यकता है, जो कि लौकिक जनमें भी होता है। परन्तु उसका भाव समझकर उसकी खतौनी करना वह अलग विषय है, जो पात्रता आधारित है।

शास्त्र-अनुभवी, स्वरूपदृष्टिवान महत् फ़र्षों द्वारा रचित हैं। अतः उसके अर्थकी यथार्थ खतौनी, स्वरूपदृष्टि प्राप्त धर्मात्मा ही कर सकते हैं, अन्य नहीं। शब्दार्थका महत्त्व नहीं है, खतौनीका महत्त्व है।

सर्वस्वरूपसे उपादेय श्रद्धात्माकी दृष्टिपूर्वक प्रवर्तता ज्ञान, यथार्थरूपसे खतौनी करता है, कर सकता है। रागकी उपादेयतावाला जीव खतौनीमें भूल करता है। (८९३)



देहकी पीड़ा आदिका दुःख वेदन - अनुभवका विषय है, सिर्फ विचारका विषय नहीं, तो फिर उसके निवारणके लिए, सुख या आत्माका विचार करने मात्रसे वह दुःख मिट जाये ऐसा कैसे बने? उसके लिए तो स्व स्वभावका परिणाम होना चाहिए। किसी एक विचारको विरुद्ध विचारसे बंद किया जा सकता है, परन्तु वेदनकी बलवत्तरता होनेसे, उसे सिर्फ विचारसे रोक सके या बंद कर सके, ऐसा नहीं हो सकता। दुःखका वेदन स्वके वेदनसे ही मिटाया जा सकता है, सुख स्वभावका ग्रहण होनेसे, कल्पना मात्रसे उत्पन्न हुआ दुःख, कल्पना छूट जानेसे मिट जाता है। अतः ज्ञायकका विकल्प या चिंतन दुःखका नाश करनेके लिए असमर्थ है। सुखका वेदन ही दुःखका उपाय है। (९०५)



कृत्रिम पुरुषार्थ / प्रयासका अभिप्राय छोड़ने जैसा है। वैसे अभिप्रायमें विधिकी भूल है। यथार्थ ज्ञान द्वारा सहज पुरुषार्थका उत्थान होता है। अथवा ध्येयके प्रति यथायोग्य प्रकारके परिणाम सहज होने लगे (लगन, जागृति, दर्शनपरिषह इत्यादि), वह यथार्थताका लक्षण है। कृत्रिमताका अभिप्राय अयथार्थताका लक्षण है। इसलिए कृत्रिमता कर्तव्य नहीं है, तथा अनुमोदन करने योग्य भी नहीं है। (९२६)



अनादिसे जीवका (भावमें) रागके प्रति झुकाव है। उसे पलटकर वीतरागताकी उपलब्धि होवे इसके लिए अंतर्मुख होना - रहना वही उपाय है, परन्तु मुमुक्षुता और नीचेके गणस्थानमें (मुनिदशा आनेके पहले) परिणामका बहुभाग बहिर्मुख (अनिवार्यरूपसे) वर्तता है, ऐसेमें वीतरागी महात्माओं एवं वीतरागीदेवोंके वीतरागभाव स्वरूपको स्मरणमें - ज्ञानमें लेकर नमस्कार - बहुमानके भाव होना सहज हैं। यद्यपि परद्रव्य प्रतिके परिणाम बहिर्मुखताके कारण उपादेय नहीं है। परन्तु 'लक्ष'में वीतरागता होनेसे, रागका और बहिर्मुखताका निषेध वर्तता है, परन्तु शुष्कता नहीं होती। प्रकारांतरसे शुष्कताकी संभावना रहती है। यथार्थतामें उक्त भक्ति सहज होती है। (९६८)



बुद्धिकी विशालता और उदारता सत्यका स्वीकार करती है। यह स्वीकार होनेमें मध्यस्थता होना अति आवश्यक है। जो जीव मध्यस्थ होता है, वह खुदके निर्णयसे विरुद्ध बातका विचार कर सकता है। स्थिर चित्तसे विचार करके योग्य-अयोग्यको समझ सकता है। यथार्थताकी प्राप्तिमें मध्यस्थताका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसलिए मुमुक्षुको अभिप्रायपूर्वक मध्यस्थताका अवधारण करना चाहिए। मध्यस्थताके अभावमें अपने अभिप्राय विरुद्ध हकीकत सत्य होने पर भी उसका निषेध आता है। और इसके कारण सहज असरलता हो जाती है और निष्पक्षरूपसे विचार करनेकी योग्यताकी हानि होनेसे अयथार्थ निर्णय लेनेमें आ जाता है। (९९२)





पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधर्मीओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र

(२८)

कलकत्ता
१४-७-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही...धर्मसेन्ही।

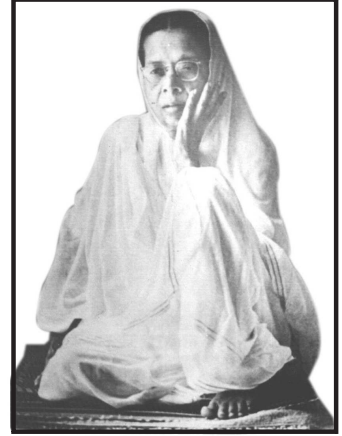
पत्र आपका मिला, इससे पहले एक पत्र यहाँ लग्न के समय मिला था, जिसका जवाब भी दिया था। इस मध्ये तो कोई पत्र मिला नहीं। हर पत्र में मेरे वहाँ आनेके लिये स्वाभाविक रागवश आपका अनुरोध रहता है वह न आनेके लिये बहुत प्रकार का उलाहना व उपदेश भी। मेरे परिणामों की स्थिति समय-समय की लिखी तो नहीं जा सकती; इतना ही कह सकता हूँ कि बिना रस के भी परिस्थितिवश लाचारी से ही इधर के अशुभउपयोगों में रहना होता है। मेरी भूमिका में अशुभ उपयोग की ही अधिकता है, स्थिरता के प्रयत्न समय भी; अधिक क्या लिखूँ? ध्रुव आत्मा तो परिणामों में भी किंचित् उथल-पुथल नहीं कर सकता। ध्रुव में श्रद्धा की यथार्थ व्यापकता का यह नियम श्री गुरुदेव ने बताया है, वह सही है, समझ में भी है। राग को इधर करो, उधर करो आदि तो परिणामों पर अस्तित्व समझनेवालों के लिये मुख्यतः अपेक्षाओं के कथन हैं। परिणाम शुभ हैं, अशुभ हैं, इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है आदि ध्रुवकी एकता सहितके ज्ञानमें आता रहता है। श्रद्धाकी अखण्ड एकताके साथ ही चारित्रकी अखण्डता भी ध्रुवके साथ हो जाये, यह ही लक्ष्य है; व यथार्थ श्रद्धाके साथ ऐसा ही होगा, यह ही नियम है। इसके हुए बिना, मात्र ऐसा हुए बिना, जीवको चैन नहीं। अन्य तरफके रागमें निरंतर रस नहीं, चाहे क्षणिक रस दिखाई भी दे। शुभ निमित्तोंके संगमें अधिक मंद कषायादिक होनेसे स्थिरता भी अधिक व शीघ्र होती रहती है, यह भी ज्ञानमें है; परंतु मुख्य संग तो निर्बाध अपराधीन चेतनका ही है, अन्य संग तो उदयाधीन है। अधिक लिखनेमें सार नहीं। उधर आनेके विकल्प भी बहुबार उठते हैं पर अधिक ज़ोर नहीं खाते। आपके पत्रोंके मात्र उधर आने बाबत लिखे होनेका, अतः क्या जवाब दूँ? मेरी ऐसी स्थितिमें आप वहाँके रोजाना या हफ्तेके खास-खास गुरुदेवश्रीके न्याय आदि लिखो तो अधिक प्रिय लगेंगे। आना तो होगा जब होगा, शायद जल्दी आ भी जाऊँ, ऐसा योग भी दिखता तो है।

सब बहनोंको व शशीभाईको धर्मस्नेहा।

- आत्मार्थी



पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा मंगल वाणी-सी.डी.१ A



प्रश्न :- मुझे आत्मा ही प्राप्त करना है, ऐसी भावनासे जो शुरूआत की थी, वह भावना यदि मन्द पड़ जाये...

समाधान :- भावना मन्द पड़े तो निर्णय पलट जाता है।

प्रश्न :- इसप्रकार निर्णय किया हो तो भी।

समाधान :- तो भी। भावना मन्द पड़े... मुझे आत्मा का करना है, आत्मा ही सर्वस्व है इसप्रकार निर्णय किया और यदि भावना बदल जाय तो उसके निर्णय में भी डाँवाडोल होने का अवकाश है।

प्रश्न :- माताजी! आशंका यह होती है कि स्वयं का और पर का अस्तित्व, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से स्वयं का अस्तित्व, चैतन्यता वह मेरा अस्तित्व है, अचेतनता वह सब परद्रव्य का अस्तित्व है और वह अस्तित्व उसका उस रूप रहता है, मेरा मुझरूप रहता है। किसी का ग्रहण होता नहीं। इतनी समझपूर्वक और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वहाँ भी योग्यतासे अथवा वह द्रव्य उस पर्याय का कार्य करता है, इतना सब निर्णय करनेके पश्चात् जो विकल्प-राग उत्पन्न होता था, उसे गौण करके, उसका स्वामीत्व छोड़कर, मैं एक ज्ञायक ही हूँ... इस प्रकार...

समाधान :- बहुभाग पलटता नहीं। जिसकी अन्तरंग भावना होती है कि आत्मा का ही करने जैसा है, ऐसी जिसकी अन्तर की भावना होती है उसे बहुभाग पलटता नहीं, फिर भी उसमें एक अवकाश है। उसकी भावना मन्द पड़ जाय तो पलट जाय। उसका निर्णय ढीला पड़े, भावना मन्द पड़े तो।

प्रश्न :- मतलब आप जो कहते हो कि प्रत्येक अवस्था में पुरुषार्थ चाहिये, इसप्रकार यहाँ भी प्रथम भूमिका में भी निरंतर उसप्रकार का पुरुषार्थ...

समाधान :- पुरुषार्थ होना चाहिये। उसे कहते हैं न कि तू सत्संग करना, गुरु की वाणी सुनना, तेरी आत्मरुचि टिकाने हेतु। स्वयं का इतना पुरुषार्थ नहीं हो तो दूसरे संग में तू मत रहना। जिसमें आत्मा की बात हो, सत्संग हो, ऐसे परिचय में रहना। बारंबार उसका विचार करना, स्वाध्याय करना, ऐसा आता है। क्योंकि तेरी रुचि को पुष्टि मिले, तेरी भावना को पोषण मिले। वह सब आता है। पुरुषार्थ मन्द हो और अन्य संग में रहे तो उसकी रुचि की मन्दता का कारण बनता है। यदि उतना पुरुषार्थ नहीं हो तो। नहीं तो कितने ऐसे भी होते हैं कि चाहे जैसे संयोग में हो, तो भी पुरुषार्थसे स्वयं की रुचि को दृढ़तासे सँभालता है और खुद इसीप्रकार आगे भी बढ़ता है। अपने ऐसे पुरुषार्थ-से ऐसा भी बनता है, लेकिन किसी का यदि इतना पुरुषार्थ नहीं हो तो उसे बाहर की असर, स्वयं के पुरुषार्थ की मंदतासे होती है। इसलिये तेरी रुचि, निर्णय वह सब तेरे पुरुषार्थसे सँभालकर रखना।

प्रश्न :- माताजी! रुचि अलग चीज है और ज्ञानसे किया निर्णय वह एक अलग चीज है, फिर भी रुचि मन्द पड़नेसे, निर्णय इसप्रकार समझपूर्वक किया हो तो भी वह पलट सकता है?

समाधान :- पलट जाय। रुचि मन्द पड़े तो फिर निर्णय भी मन्द पड़ जाता है। इतनी उसकी दृढ़ता

में ठीलास आ जाती है, ढीलापन आ जाता है।

प्रश्न :- क्योंकि परिणति में ऐसा देखने में आता है कि एक महिना-दो महिना चिंतवन चला हो तब ऐसा लगता है कि यह निर्णय किया है वह निर्णय बदलेगा नहीं। लेकिन फिर ऐसा भी लगे कि रुचि मन्द होती मालूम पड़े और रुचि मन्द पड़े तो आप कहते हो जैसे निर्णय ढीला पड़ जाय, ऐसा भी ख्याल आता है। तब ऐसा लगता है कि इतनी समझपूर्वक और कोई भी कहे तो न्याय, युक्तिसे निःशंक निर्णय जो हुआ है उसमें ऐसा क्यों हो गया? लेकिन आप कहते उस अनुसार रुचि मन्द पड़े तो...

समाधान :- निर्णय ढीला पड़ जाता है। समझपूर्वक हो कि वस्तु का स्वभाव यही है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, लेकिन रुचि मन्द पड़नेसे, आत्मा का करने जैसा है, ऐसा होने के बावजूद यदि अपनी रुचि और पुरुषार्थ मन्द पड़े तो निर्णय में ढीलापन (आ जाता है)। क्योंकि जो निर्णय किया उसप्रकार स्वयं का कार्य, अन्दर उस प्रकार की भावना यदि टिकती नहीं है तो वह निर्णय निर्णयरूप में शुष्कता को प्राप्त हो जाता है यानी ढीला पड़ जाता है। वह सब ठीक, यह सब भिन्न है, लेकिन अन्दर जो लगना चाहिये कि भिन्न है, लेकिन आत्मा का स्वभाव यही है इसलिये वही करनेयोग्य है, उतना जो भावना का ज़ोर था वह ढीला पड़ जाय, इसलिये वह निर्णय जो किया था वह ढीला पड़ जाता है।

प्रश्न :- उसका अर्थ कि निरंतर पुरुषार्थ और उस जाति का पुरुषार्थ खुदसे नहीं होता हो तो सत्समागम, सत्श्रवण, सत्वाचन इत्यादि बराबर उसे चालू रखना चाहिये।

समाधान :- ऐसा होना चाहिये। सत्संग, श्रवण, मनन, स्वाध्याय आदि सब स्वयं के पुरुषार्थ को अन्दर संभालने के लिये (होना चाहिये)। देव-गुरु-शास्त्र के परिचय में रहना, सत्संग में रहना। जैसा योग हो, वैसा योग नहीं बने तो स्वयं शास्त्रस्वाध्याय करे।

प्रश्न :- सत्संग में रहने की तो खास जरूरत है, वह तो अभी वर्तमान में जो आपकी चर्चा चल रही है उस परसे भी ख्याल आता है कि एक छोटी बात में भी ऐसा लगता हो कि यह बराबर समझते हैं, लेकिन उसमें भी आपश्री समझाते हो तब लगता है कि...

समाधान :- स्वयं से समाधान करने जाय तो वह समाधान होता नहीं। वह अर्थ जो उनके हृदयमें-से आता हो और उनकी (वाणी का) श्रवण आदि हो उसमें जो आत्मा को लाभ होता है वह अलग ही होता है। इसलिये निमित्त-उपादान का ऐसा सम्बन्ध होता है।

प्रश्न :- उसमें तो ऐसा कहा कि व्यवहार के स्थान में व्यवहार भी बराबर समझना चाहिये और निश्चय के साथ निश्चय समझकर उसका आश्रय करना, इसप्रकार दोनों वस्तु जैसे है जैसे समझनी। व्यवहार तो मात्र उपचार है ऐसा समझकर निकाल दे...

समाधान :- निकाल दे तो वह बराबर समझा नहीं है। निश्चय को निश्चय के रूप में समझना, उसका-आत्मा का आश्रय लेना, लेकिन बीच में व्यवहार है। वह व्यवहार यानी कुछ है ही नहीं ऐसा उसका अर्थ नहीं है। बीच में साधकदशा आती है लेकिन व्यवहार है और मुमुक्षुदशा में भी, अन्दर जो आत्मार्थी है वह निश्चय स्वरूप को निश्चय समझे, आत्मा आश्रय करने लायक है, यह सब बीच में आता है, देव-गुरु-शास्त्र, सत्संग आदि को जैसे है जैसे समझे।



१७५

बंबई, कार्तिक वदी ८, गुरु, १९४७

सुज़ भाई अंबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। आप सब सत्संगकी वृद्धि करें। छोटालालका आज पत्र मिला। आप सबका जिज्ञासु भाव बढ़े यह निरन्तरकी इच्छा है। परम समाधि।

वि.रायचन्दके यथायोग्य।

१७६

बंबई, कार्तिक वदी ९, १९४७

जीवन्मुक्त सौभाग्यमूर्ति सौभाग्यभाई, मोरबी।

मुनि दीपचंदजीके सम्बन्धमें आपका लिखना यथार्थ है। भवस्थितिकी परिपक्वता हुए बिना, दीनबंधुकी कृपाके बिना, संतचरणकी सेवा किये बिना त्रिकालमें मार्ग मिलना दुर्लभ है।

जीवके संसार परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य स्वयं जिस ज्ञानके लिये शंकित है, उस ज्ञानका उपदेश करना, प्रगटमें उस मार्गकी रक्षा करना, हृदयमें उसके लिये चलविचलता होते हुए भी अपने श्रद्धालुओंको उसी मार्गके यथायोग्य होनेका ही उपदेश देना, यह सबसे बड़ा कारण है। आप उस मुनिके सम्बन्धमें विचार करेंगे तो ऐसा ही प्रतीत हो सकेगा।

स्वयं शंकामें गोते खाता हो, ऐसा जीव निःशंक मार्गका उपदेश देनेका दंभ रखकर सारा जीवन बिता दे यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके सम्बन्धमें यहाँ पर कुछ कठोर भाषामें लिखा है ऐसा लगे तो भी वैसा हेतु है ही नहीं। जैसा है वैसा करुणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी प्रकार दूसरे अनंत जीव पूर्वकालमें भटके हैं, वर्तमानकालमें भटक रहे हैं और भविष्य कालमें भटकेंगे। जो छूटनेके लिये ही जीता है वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःशंक अनुभवका है। बंधनका त्याग करनेसे छूटा जाता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते रहना, उसमें अपना महत्त्व स्थापित करना और पूज्यताका प्रतिपादन करना, यह जीवको बहुत भटकानेवाला है। यह समझ समीप-मुक्तिगामी जीवको होती है, और ऐसे जीव समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ होते हुए भी उसका त्याग करके, करपात्रमें भिक्षा माँगकर जीनेवाले सन्तके चरणोंको अनंतानंत प्रेमसे पूजते हैं, और वे अवश्यमेव छूटते हैं।

दीनबंधुकी दृष्टि ही ऐसी है कि छूटनेके कामीको बाँधना नहीं, और बँधनेके कामीको छोड़ना नहीं। यहाँ विकल्पशील जीवको ऐसा विकल्प हो सकता है कि जीवको बँधना पसन्द नहीं है, सभीको छूटनेकी इच्छा है तो फिर बँधता है क्यों? इस विकल्पकी निवृत्ति इतनी ही है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ़ इच्छा होती है उसे बन्धनका विकल्प मिट जाता है; और यह इस बातका सत्साक्षी है।

एक ओर तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख 'लय'में समा जानेकी इच्छा रहती है। अलख 'लय'में आत्मासे समावेश हुआ है, योगसे करना यह एक रटन है। परमार्थके मार्गको बहुतसे मुमुक्षु प्राप्त करें, अलख समाधि प्राप्त करें तो अच्छा, और इसके लिये कितना ही मनन है। दीनबंधुकी इच्छानुसार हो रहेगा। अद्भुत दशा निरन्तर रहा करती है। अवधूत हुए हैं, अवधूत करनेके लिये कई जीवोंके प्रति दृष्टि है। महावीरदेवने इस कालको पंचमकाल कहकर दुःषम कहा, व्यासने कलियुग कहा; यों बहुतसे महापुरुषोंने इस कालको कठिन कहा है; यह बात निःशंक सत्य है। क्योंकि भक्ति और सत्संग विदेष गये हैं अर्थात् सम्प्रदायोंमें नहीं रहे और ये प्राप्त हुए बिना जीवका छूटकारा नहीं है। इस कालमें प्राप्त होने दुष्कर हो गये हैं, इसलिये काल भी दुषम है। यह बात यथायोग्य ही है। दुःषमको कम करनेके लिये आशिष दीजियेगा। बहुत कुछ बतानेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने या बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टासे समझमें आये ऐसा हुआ ही करे, यह इच्छा निश्चल है।



वि. आज्ञाकारी रायचन्दके दंडवत्।